P: ISSN NO.: 2394-0344 RNI No.UPBIL/2016/67980 VOL-4* ISSUE-2* May- 2019
E: ISSN NO.: 2455-0817 *Remarking An Analisation*

राजनीति विज्ञान में न्याय की संकल्पना

हरबीर सिंह डागुर
सहायक आचार्य
राजनीति विज्ञान विभाग
महारानी श्री जया राजकीय महाविद्यालय,
भरतपुर, राजस्थान, भारत

सारांश

न्याय की संकल्पना आरम्भ काल से ही राजनीतिक दार्शनिकों के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण विषय रही है। समय के साथ–साथ न्याय की संकल्पना के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। प्राचीन सोफिस्ट विचारक जहां सदगुणों की तलाश करते थे वहीं कुछ लोग शक्तिशाली के हित को न्याय कहते थे। प्लेटों ने समाज के तीनों वर्गों को अपना अपना कार्य करने को ही न्याय कहा कालान्तर में यह एक बहु आयामी अवधारणा बनती चली गई और कुछ लोगों ने प्राकृतिक न्याय की कल्पना की और कुछ ने सामाजिक आर्थिक न्याय पर बल दिया। आधुनिक काल में समतावादी, पूंजीवादी, समाजवादी, महिला अधिकारवादी, अपने अपने दृष्टिकोणों से न्याय की व्याख्या करते हैं। सामाजिक न्याय की संकल्पना स्वतंत्रता, समानता और बंधुता के आदर्शों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न है। आज के युग में न्याय की मुख्य समस्या है कि सामाजिक जीवन के अंतर्गत विभिन्न व्यक्तियों या समूहों के प्रति वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, लाभों, शक्ति और सम्मान के साथ–साथ दायित्वों और बाध्यताओं के आबंटन का उचित आधार क्या होना चाहिए?

मुख्य शब्द : संकल्पना, न्यायपूर्ण, निष्ठापूर्ण, सरोकार, सदगुण, वितरण, संयम, प्रतिष्ठा, उपयोगिता, यथास्थिति, प्राकृतिक, औपचारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानवतावादी, प्रतीकात्मक, तात्विक, अर्थव्यवस्था, मार्क्सवादी, विसमता, आवश्यकता, संरक्षण, प्रतिस्पर्धा, पूंजीबाद, साम्यवाद।

प्रस्तावना

न्याय के सिद्धांत का मुख्य सरोकार यह निर्धारित करने से है कि सामाजिक जीवन में लाभों और दायित्वों के वितरण के तर्कसंगत मानदंड क्या होंगे? यह बात महत्त्वपूर्ण है कि न्याय की चर्चा केवल ऐसे समाज में प्रासंगिक होगी जिसमें वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, इत्यादि का अभाव हो, और जहाँ प्रचलित कानूनों, अधिकारों, संपत्ति–संबंधों और नैतिक मान्यताओं की आलोचना करने और उनमें उपयुक्त परिवर्तनों की मांग करने की स्वतंत्रता और गुंजाइश हो। कुछ ऐसी प्रणालियां भी हो सकती हैं जिनमें न्याय की चर्चा निरर्थक होगी। उदाहरण के लिए, शुद्ध सत्तावादी प्रणाली के अंतर्गत संपूर्ण वितरण के मानदंड पहले से निर्धारित होते हैं जिन पर कोई प्रश्न–चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। अतः वहाँ वितरण के नए मानदंडों की तलाश बेकार होगी। फिर, शुद्ध सत्तावादी प्रणाली के अंतर्गत संपूर्ण वितरण के मानदंड पहले से निर्धारित होते हैं जिन पर कोई प्रश्न–चिन्ह नहीं लगाया जा सकता। अतः वहाँ वितरण के नए मानदंडों की तलाश बेकार होगी। फिर, शुद्ध प्रतिस्पर्धात्मक प्रणाली के अंतर्गत सारा वितरण बाजार–शक्तियों की परस्पर–क्रिया से निर्धारित होता है। अतः वहाँ वितरण के नए मानदंडों को मान्यता ही नहीं दी जाएगी। अंततः काल्पनिक साम्यवादी समाज के अंतर्गत अभाव की स्थिति ही समाप्त हो जाएगी, और 'प्रत्येक व्यक्ति को अपनी–अपनी आवश्यकता के अनुसार' प्राप्त होगा। अतः वहाँ न्याय के किसी वैकल्पिक सिद्धांत पर विचार करना व्यर्थ होगा। जहाँ सबकी सब आवश्यकताएं पूरी हो जाएंगी, वहाँ समाज से अन्याय की समस्या ही लुप्त हो जाएगी।

अध्ययन के उद्देश्य

प्रस्तुत शोधपत्र में अध्ययन का उद्देश्य है शोधार्थियों को सामाजिक विज्ञान में न्याय की संकल्पना का परिचय कराना और न्याय के ऐतिहासिक स्वरूप की जानकारी देना कि किस प्रकार न्याय की संकल्पना प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक समय के साथ बदलती रही है।

साहित्यावलोकन

राजनीति विज्ञान के चिंतकों और लेखकों ने न्याय के बारे में शुरूआत से लिखा है आरम्भ में सोफिस्ट विचारधारा शक्तिशाली व्यक्ति के हित को न्याय मानकर चलती थी। बाद में प्लेटों ने अपनी पुस्तक रिपब्लिक (381 ईशा पूर्व) में

लिखा प्रत्येक व्यक्ति को जो उसका प्राप्य उपलब्ध वही न्याय है। अरस्तु ने अपनी पुस्तक पॉलिटिक्स में न्याय का वितरणात्मक स्वरूप बताया मध्यकालीन चिंतकों ने न्याय के बारे में अपने–अपने भिन्न–भिन्न विचार रखे। कुछ इसके उपयोगितावादी स्वरूप को मानते हैं तो कुछ समतावादी स्वरूप को कालान्तर में चिंतकों ने न्याय की पूंजीवादी व्याख्या भी की। रेविड ह्यूम ने कानून के पालन को न्याय कहा तो मार्क्सवादी दृष्टिकोण ने इस संकल्पना को आर्थिक प्रणाली से जोड़ दिया तो बाद में जॉन रॉल्स ने अपनी पुस्तक (ए थ्योरी ऑफ जस्टिस 1971) में एक मूल स्थिति के कल्पना करते हुये अज्ञानता के पर्दे का सिद्धान्त दिया। रॉवर्ट नॉजिक ने अपनी पुस्तक अनार्की स्टेट एण्ड यूटोपिया (1974) में न्याय की हकदारी का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। न्याय की इन विभिन्न अवधाराणों के कारण इसे बिना तले वाला वर्तन कहा जाता है। अमर्त्य सेन ने अपनी पुस्तक (The Idea of Justice) न्याय का स्वरूप (2014) में न्याय के इन विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया है और अनेक तुलनात्मक प्रश्नों का तर्क आधारित विचार विमर्श से समाधान करने का प्रयास किया है। प्रोफेसर अमर्त्य सेन लिखते हैं कि हम न्याय के नियमों की व्याख्या संस्थाओं से नहीं बल्कि व्यक्तियों के जीवन और उनकी स्वतंत्रताओं के आधार पर करेगें। प्रोफेसर ओमप्रकाश गावा अपनी पुस्तक राजनीतिक सिद्धान्त की रूप रेखा (संस्करण 2018) में न्याय के सिद्धान्तों की तुलना करत हुये लिखते हैं कि सामाजिक परिवर्तन के बावजूद यदि महिलाओं के उपेक्षित और वंचित वर्ग की दशा में परिवर्तन नहीं होता तो न्याय की अवधारणा को एक मुद्दा मान लेना युक्ति संगत होगा।

न्याय का विचारः ऐतिहासिक विकास

प्लेटों का न्याय सिद्धांत

प्राचीन यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो की चिंतन की मुख्य समस्या न्याय की संकल्पना थी। उसने न्याय की जो तस्वीर खींची है, वह परंपरागत दृष्टिकोण का उपयुक्त उदाहरण है। प्लेटो ने न्याय की स्थापना के उद्देश्य से नागरिक के कर्तव्यों पर बल दिया। न्यायपूर्ण व्यवस्था की स्थापना के लिए उसने नागरिकों के तीन वर्ग बनाए– दार्शनिक शासक, सैनिक वर्ग और उत्पादक वर्ग। उसने यह तर्क दिया कि जब ये तीनों वर्ग अपने–अपने कर्तव्यों का निष्ठापूर्वक पालन करेंगे, तब राज्य की व्यवस्था अपने आप न्यायपूर्ण होगी।[1]

प्लेटो के अनुसार, न्याय की परिभाषा यह है कि ''प्रत्येक व्यक्ति को उसका प्राप्य उपलब्ध हो''[2] मनुष्य के व्यवहार के तीन मुख्य स्त्रोत हैं : इच्छा या तृष्णा, भावना या मनोवेग और ज्ञान या विवेक। वैसे ये सभी गुण सभी मनुष्यों में पाए जाते हैं, परंतु किसी में किसी गुण की प्रधानता रहती है, किसी में किसी और गुण की। इसी आधार पर प्लेटो ने समाज के तीन वर्गों की पहचान की है जिनमें इच्छा या तृष्णा की प्रधानता है, वे उद्योग–व्यापार को तत्पर होते हैं, जिनमें भावना की प्रमुखता है, वे सैनिक या योद्धा का व्यवसाय अपनाते हैं, जो ज्ञान से सम्पन्न हैं, वे सद्गुण निश्चित कर लें तो राज्य के लिए उपयुक्त सद्गुण निर्धारित करना सुगम हो जाएगा क्योंकि राज्य तो 'व्यक्ति का वृहत रूप' है। प्लेटों ने चार 'मूलभूत सद्गुणों' की पहचान की है। इच्छा या तृष्णा के लिए उपयुक्त सद्गुण युक्त जीवन है। अतः उद्योग–व्यापार से जुड़े हुए वर्ग को सुदृढ़जीवन की प्राप्ति के लिए अपने अंदर संयम विकसित करना चाहिए। भावना या मनोवेग के लिए उपयुक्त सद्गुण 'साहस' है।[3] अतः सैनिक वर्ग को सुदृढ़जीवन बिताने के लिए अपने अंदर साहस विकसित करना चाहिए। ज्ञान के लिए उपयुक्त सद्गुण 'बुद्धिमत्ता' है। दार्शनिक या बुद्धिजीवी वर्ग को इस गुण का विकास करना चाहिए। चौथा या अंतिम सद्गुण 'न्याय' है जो कि सर्वोच्च सद्गुण है। यह समस्त सद्गुणों के सही–सही संयोग का सूचक है। व्यक्ति के मामले में न्याय से तात्पर्य यह है कि संयम को साहस का संबल मिल जाए, और बुद्धिमत्ता से मार्गदर्शन प्राप्त हो। अतः राज्य के संदर्भ में न्याय का अर्थ यह होगा– संयमशील उत्पादक–वर्ग को साहसी सैनिक–वर्ग का संरक्षण प्राप्त हो, और इन दोनों को बुद्धिमत्ता–सम्पन्न दार्शनिक वर्ग से मागदर्शन प्राप्त हो। यही कारण है कि प्लेटों के न्याय–सिद्धान्त के अंतगर्त दर्शनिक–वर्ग के शासन का समर्थन किया गया है, और सैनिक–वर्ग तथा उत्पादक–वर्ग को अपने–अपने स्वभाव के अनुरूप भूमिकाएं सौंपी गई हैं जिन्हें अपने–अपने लिए उपयुक्त सद्गुणों का आचरण करते हुए दार्शनिक शासकों के नियंत्रण में रहने का निर्देश दिया गया है।

प्लेटों का विचार है कि ज्ञान के आलोक के बिना समाज अंधकार में भटक जाएगा। यदि शासन की बागडोर दार्शनिकों के हाथों में नहीं दी जाएगी तो उत्पादक–वर्ग की अनियंत्रित लालसा और सैनिक–वर्ग का अनियंत्रित भावावेग समाज को विध्वंस की ओर ले जाएगा। जिस देश के शासक ज्ञान–विज्ञान के प्रति अनुरक्त नहीं होंगे, या जहाँ दौलत के भूखे व्यापारी अथवा युद्ध के प्यासे सैनिक सत्ता का सूत्र संभाल लेंगे, उस देश का शासन भ्रष्ट, अस्थिर और विनाशकारी होगा। जब तक राजनीति में अयोग्य और धूर्त लोगों के प्रवेश पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाएगा, तब तक राज्य की बुराइयों, राजनीतिक अस्थिरता, अव्यवस्था और कुप्रबंध का अंत नहीं हो पाएगा। जब तक दार्शनिक शासक नहीं बन जाते या संसार के शासक दर्शनशास्त्र पर अधिकार प्राप्त नहीं कर लेते, तब तक राज्यों को अपनी बुराइयों से मुक्ति नहीं मिल पाएगी।[4]

अरस्तू का न्याय सिद्धांत

अरस्तू के अनुसार, न्याय का सरोकार मानवीय संबंधों के नियमन से है। अरस्तू का विश्वास था कि लोगों के मन में न्याय के बारे में एक–जैसी धारणा के कारण ही राज्य अस्तित्व में आता है। न्याय के प्रयोग–क्षेत्र को ध्यान में रखते हुए अरस्तू ने दो प्रकार के न्याय में अंतर किया हैः– पहला वितरणात्मक न्याय है, दूसरे को प्रतिवर्ती न्याय, परिशोधनात्मक न्याय या प्रतिकारात्मक न्याय कहा जाता है।[5]

वितरणात्मक न्याय का मूल सिद्धांत यह है कि 'समान लोगों के साथ समान बर्ताव किया जाए'। इसके लिए सबसे पहले यह पता लगाना जरूरी है कि नागरिकों को किस आधार पर समान या असमान माना जाएगा? अरस्तू का विचार था कि इस मामले में प्रचलित प्रथाओं

और प्रथागत कानून का सहारा लेना अधिक उपयुक्त होगा, लिखित कानून उतने उपयुक्त सिद्ध नहीं होंगे क्योंकि इन्हें सत्ताधारी जब चाहें, बना सकते हैं या बदल सकते हैं। अरस्तू ने चेतावनी दी हैः– मनुष्यों के चरित्र को बदलना उतना सरल नहीं है जितनी सरलता से कानून बदल दिए जाते हैं।

अरस्तू ने तर्क दिया कि है कि वितरण–न्याय के अंतर्गत पद–प्रतिष्ठा और धन–संपदा का वितरण अंकगणितीय अनुपात से नहीं होना चाहिए, बल्कि रेखागणितीय अनुपात से होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि इनमें से सबको बराबर हिस्सा नहीं मिलना चाहिए बल्कि प्रत्येक को अपनी–अपनी योग्यता के अनुसार हिस्सा मिलना चाहिए। परंतु योग्यता कैसे निर्धारित की जाए? अरस्तू के अनुसार, भिन्न–भिन्न संविधानों के अंतर्गत योग्यता के भिन्न–भिन्न आधार स्वीकार किए जाते हैं। उदाहरण के लिए, गुटतंत्र के अंतर्गत योग्यता का स्तर व्यक्ति की अपनी संपदा से निर्धारित होता है। दूसरी ओर, अभिजाततंत्र के अंतर्गत इसे सद्‌गुण के पैमाने से मापते हैं। अरस्तू का विश्वास है कि आदर्श राज्य में वितरण–न्याय के उद्देश्य से सद्‌गुण को ही योग्यता का मानदंड माना जाएगा। जो जितने सद्‌गुण–सम्पन्न होंगे, उन्हें उतने ऊंचे पद और पुरस्कार के योग्य समझा जाएगा, क्योंकि सद्‌गुणवान मनुष्य ही सांसारिक पद–प्रतिष्ठा और धन–संपदा को गौण मानते हुए मानव–जीवन के ध्येय को सबसे ऊंचा स्थान देगा।[6]

प्रतिवर्ती न्याय का सरोकार लोगों के परस्पर लेन–देन को नियमित करने और अपराधों का दंड निर्धारित करने से है। यह न्यायाधीश के विचार–क्षेत्र में आता है। इसका ध्येय यह है कि व्यक्तियों के परस्पर लेन–देन में दोनों पक्षों का पलड़ा बराबर रहे, किसी के साथ धोखा न हो, किसी को हानि न उठानी पड़े। अपराध के मामले में प्रतिवर्ती न्याय की मांग यह होगी कि इससे जिस पक्ष को हानि पहुँची हो, उसकी संपूर्ण क्षतिपूर्ति कर दी जाए। संक्षेप में, प्रतिवर्ती या परिशोधनात्मक न्याय का उद्देश्य व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में संतुलन स्थापित करना या बिगड़े हुए संतुलन को फिर से स्थापित करना है। अरस्तू के अनुसार, प्रतिवर्ती न्याय के क्षेत्र में अंकगणितीय अनुपात का प्रयोग उपयुक्त होगा। मतलब यह कि इस मामले में किसी व्यक्ति की योग्यता–अयोग्यता या सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा, बल्कि सबको समान मानते हुए केवल व्यक्ति के कृत्य पर विचार किया जाएगा।

इस तरह हम देखते हैं कि अरस्तू के 'वितरण न्याय' के अंतर्गत 'योग्यता' की संकल्पना इसकी आधुनिक संकल्पना से सर्वथा भिन्न है। आधुनिक अर्थ में योग्यता व्यक्ति के अपने गुणों और अपने 'कृत्य' से निर्धारित की जाती है। परंतु अरस्तू प्रचलित परंपरा को योग्यता के मानदंड का स्त्रोत बना देता है जिस पर व्यक्ति का अपना कोई वश नहीं है। दूसरी ओर, प्रतिवर्ती न्याय का सीधा संबंध व्यक्ति के अपने 'कृत्य' से है, अतः कुछ हद तक यह योग्यता के आधुनिक अर्थ के निकट आ जाता है। जो भी हो, अरस्तू दोनों प्रकार के न्याय का निरूपण करते हुए 'यथास्थिति' का समर्थक सिद्ध होता है। वितरण –न्याय का स्त्रोत ही 'यथास्थिति' है। प्रतिवर्ती न्याय यह मांग करता है कि वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन होने पर 'यथास्थिति' फिर से स्थापित कर दी जाए। कुल मिलाकर, अरस्तू के न्याय–सिद्धांत का संबंध व्यक्तियों से है– उनमें सम्मान और संपदा का वितरण कैसे किया जाए, या उनके परस्पर व्यवहार को कैसे नियमित किया जाए? इसमें समाज–व्यवस्था को परखने या उसे न्याय की किसी वस्तुपरक संकल्पना के अनुरूप ढालने की कोई गुंजाइश नहीं है।[7]

इसके अलावा अरस्तू ने एक विश्वव्यापी कानून अथवा प्राकृतिक कानून अथवा प्राकृतिक कानून के अस्तित्व का भी संकेत दिया जो किसी देश या किसी युग–विशेष के कानून से परे है और जिसका संबंध संपूर्ण मानव जाति से है। यह संकल्पना स्तोइक दर्शन के माध्यम से रोम के न्यायशास्त्र में आकर विकसित हुई। फिर मध्यकाल में कैथोलिक चर्च ने ईश्वर को प्राकृतिक कानून का स्त्रोत स्वीकार किया जो मनुष्य के विवेक की दिव्य शक्ति के द्वारा व्यक्त होता है। आधुनिक युग में आरंभ में सामाजिक अनुबंधवादियों ने प्राकृतिक दशा के साथ प्राकृतिक कानून का संबंध जोड़ा। मोटे तौर पर 'प्राकृतिक कानून' के साथ यह मान्यता जुड़ी थी कि साधारण कानून को न्याय की अभिव्यक्ति तभी मान सकते हैं जब वह प्राकृतिक कानून के अनुरूप हो।

आधुनिक युग की ओर

आधुनिक युग में डेविड ह्यूम ने यह मत व्यक्त किया कि न्याय का अर्थ नियमों का पालन मात्र है क्योंकि अनुभव से यह सिद्ध हो चुका है कि ये नियम 'सर्व–हित' का आधार हैं। अतः 'सर्व–हित' या 'सार्वजनिक उपयोगिता' को न्याय का एकमात्र स्त्रोत मानना चाहिए, मनुष्य की प्रकृति, विवेक या अनुबंध में न नियमों का स्त्रोत ढूंढने से कोई फायदा नहीं। फिर, उपयोगितावाद के प्रवर्तक जरमी बेंथम ने कहा कि 'प्राकृतिक कानून' सरीखी शब्दावली यथार्थ मूल्यों को धुँधला कर देती है। अतः न्याय की सच्ची परख 'उपयोगिता' से होती हे जिसका सूत्र 'अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख' है।[8] जॉन स्टुअर्ट मिल ने न्याय को सामाजिक उपयोगिता का सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष माना है। मनुष्य चूंकि अपने लिए सुरक्षा की कामना करते हैं, इसलिए वे ऐसे नैतिक नियम स्वीकार कर लेते हैं जिनसे दूसरे भी वैसी ही सुरक्षा अनुभव कर सकें। उपयोगितावादी न्याय का मूलमंत्र यही है।

न्याय के विविध रूप

समकालीन चिंतन के अंतर्गत न्याय की समस्या पर अनेक दृष्टियों से विचार किया जाता है जिससे न्याय के विविध रूपों की चर्चा सामने आती है। वस्तुतः ये सब न्याय की समस्या को भिन्न–भिन्न संदर्भों में समझने के प्रयत्न हैं। न्याय के विविध रूपों से यह संकेत मिलता है कि (1) न्याय के प्रति भिन्न–भिन्न दृष्टिकोण क्या हैं? और (2) एक ही दृष्टिकोण के अंतर्गत न्याय के भिन्न–भिन्न प्रयोग–क्षेत्रों में इसका अभिप्राय क्या है? वस्तुतः 'न्याय के विविध–रूप' न्याय के स्वरूप को विविध संदर्भों में जानने–समझने के प्रयत्न हैं। इनसे उसके संपूर्ण रूप की संकल्पना करने में सहायता मिल सकती है।

कानूनी–औपचारिक न्याय और प्राकृतिक न्याय

जब दो पक्षों के परस्पर विरोधी दावों का फैसला करने के लिए या किसी व्यक्ति या संस्था के अधिकार एवं दायित्व निर्धारित करने के लिए प्रचलित कानून के अनुसार न्याय किया जाता है, तब उसे कानूनी न्याय कहते हैं। उदाहरण के लिए, जब देश के कानून के अनुसार किसी अपराधी को दंड दिया जाता है, या विवादास्पद संपत्ति के वैध अधिकारी का निर्णय दिया जाता है तो इसे कानूनी न्याय कहेंगे। अंतराष्ट्रीय न्यायालय जब अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार कोई फैसला देता है तो वह भी कानूनी न्याय होता है। कानूनी न्याय में कानून के प्रकट रूप को ही सबसे बड़ा प्रमाण माना जाता है, और उसे निष्पक्ष भाव से लागू किया जाता है, इसलिए यह औपचारिक न्याय की कोटि में आता है।

परंतु कानून की व्यवस्थाओं की सहायता से न्याय की सारी समस्या हल नहीं हो जाती। जहाँ कानून मौन या अस्पष्ट हो वहाँ न्यायाधीश प्राकृतिक न्याय का सहारा लेते हैं। प्राकृतिक न्याय का मुख्य सरोकार कानून के अलिखित हिस्से से है। जहाँ किसी प्रश्न का उत्तर कानून की किताब में दर्ज न हो, वहाँ न्यायाधीशों से अपने न्याय–बोध का सहारा लेने की आशा की जाती है। ऐसी हालत में 'कानूनों के पीछे हुए कानून' को मान्यता दी जाती है। इसे प्राकृतिक न्याय इसलिए कहते हैं क्योंकि इसकी प्रमाणिकता का स्त्रोत स्वयं प्रकृति है। इसमें यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य प्रकृति से ही विवेकशील प्राणी है। अतः विवेक या तर्क–बुद्धि का प्रयोग करके जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं, वे प्राकृतिक न्याय का आधार हैं। चूंकि प्रकृति सब जगह एक–सी है, इसलिए प्राकृतिक न्याय के नियम विश्वजनीन नियम हैं।

कुछ लेखक प्राकृतिक न्याय को प्राकृतिक कानून की धारणा के साथ जोड़ते हैं जो प्राचीन स्तोइक दर्शन से आरंभ हुई और सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दी में बहुत लोकप्रिय रही। परंतु जैसा कि एच.सी. मार्शल ने अपनी पुस्तक 'नेचुरल जस्टिस्च्य (प्राकृतिक न्याय) के अंतर्गत स्पष्ट किया है, वर्तमान युग में 'प्राकृतिक कानून' शब्दावली का प्रयोग सीमित अर्थ में होता है, और इस अर्थ में वह न्यायिक प्रक्रिया के कुछ नियमों का संकेत देती है। स्वयं मार्शल ने प्राकृतिक न्याय के दो मूलतत्त्वों का उल्लेख किया है :

(क) कोई व्यक्ति स्वयं अपने मामले का न्यायाधीश नहीं होगा, और

(ख) दोनों पक्षों की सुनवाई अवश्य की जाएगी।

जे.आर. ल्यूकस अपनी पुस्तक 'द प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिक्स' के अंतर्गत न्यायिक प्रक्रिया के संदर्भ में प्राकृतिक न्याय की और भी विस्तृत परिभाषा दी है : ''प्राकृतिक न्याय के नियम यह मांग करते हैं कि कोई व्यक्ति स्वयं अपने मामले का न्यायाधीश नहीं होगा, न्यायाधीश प्रस्तुत मामले पर पूरा–पूरा विचार करेगा, न्यायाधीश किसी निर्णय तक पहुँचते समय सारी अप्रासंगिक बातों को अपने मन से निकाल देगा, एक ही तरह के मामलों का निर्णय एक ही तरह से किया जाएगा, एक बार फैसला हो जाने पर किसी मामले को फिर से नहीं खोला जाएगा, हालांकि कुछ प्रमाण–ग्रंथों के अनुसार कुछ पुनरावेदन–अधिकार मान्य होगा, केवल न्याय नहीं किया जाएगा बल्कि यह दिखाई देना चाहिए कि न्याय हुआ है, न्यायिक निर्णय में निरा फैसला ही नहीं दिया जाएगा, बल्कि उस निर्णय तक पहुँचने के कारणों का विवरण भी दिया जाएगा।''[9]

कुछ भी हो, प्राकृतिक न्याय का विचार–क्षेत्र धीरे–धीरे और भी विस्तृत होता जा रहा है, यहाँ तक कि इसे संपूर्ण न्याय का सार–तत्त्व माना जाने लगा है। अब यह माना जाता है कि कानून की जिस अधिरचना को हम रीति–रिवाज, पूर्वदृष्टांत और अधिनियमन के रूप में देखते हैं, उसके पीछे छिपे हुए न्याय के सब सिद्धांत 'प्राकृतिक न्याय की कोटि में आते हैं। सामाजिक चेतना के विकास के साथ–साथ प्राकृतिक न्याय का ज्यादा–से–ज्यादा हिस्सा अपने अव्यक्त रूप का त्याग करके नए–नए कानूनों के रूप में व्यक्त होता जाता है।

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय :

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय तीनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना एक दूसरा अधूरा है। अतः जब भी न्याय की संकल्पना को एक व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाता है। इन तीनों की एक साथ चर्चा की जाती है। और यह सच भी है कि बिना आर्थिक न्याय के कोई भी समाज समतावादी नहीं हो सकता और बिना सामाजिक न्याय के आर्थिक न्याय की कल्पना नहीं की जा सकती। जब तक सामाजिक और आर्थिक दोनों न्याय नहीं होगें तब तक राजनीतिक क्षेत्र में न्याय के क्षेत्र में सोचना बेईमानी होगी।

व्यापक अर्थ में, 'सामाजिक न्याय' शब्दों से सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तीनों तरह के न्याय का बोध हो जाता है। सीमित अर्थ में, 'सामाजिक न्याय' का तात्पर्य यह है कि सामाजिक जीवन में सब मनुष्यों की गरिमा स्वीकार की जाए, स्त्री–पुरुष, गोरे–काले, या जाति, धर्म, क्षेत्र इत्यादि के आधार पर किसी व्यक्ति को बड़ा–छोटा या ऊँचा–नीचा न माना जाए, शिक्षा और उन्नति के अवसर सबको समान रूप से प्राप्त हों, और सब लोग मनुष्य–मनुष्य के नाते मिल–जुलकर साहित्य, कला, संस्कृति और तकनीकी साधनों का उपभोग और उपयोग कर सकें।[10]

'आर्थिक न्याय' का अर्थ यह है कि उत्पादन की प्रक्रिया में कोई व्यक्ति दूसरों के जीवन को नियंत्रित करने और उनसे मनमानी शर्तों पर काम कराने की शक्ति प्राप्त कर ले, बल्कि सब लोगों को अपनी–अपनी योग्यता और परिश्रम के अनुसार उचित लाभ या पुरस्कार प्राप्त करने का अवसर मिले, बाजार की स्थिति में कोई व्यक्ति मनमानी शर्तों पर दूसरों को वस्तुएँ और सेवाएं प्रदान करने की शक्ति प्राप्त न कर ले, बल्कि सबको अपनी–अपनी क्षमता और आवश्यकता के अनुसार उचित शर्तों पर उपेक्षित वस्तुएं और सेवाएं प्राप्त हो सकें।

'राजनीतिक' न्याय का अर्थ यह है कि सार्वजनिक नीतियां निर्धारित करने की प्रक्रिया में सबको प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर और अधिकार प्राप्त हो, सत्ता प्राप्त करने का मार्ग सब के लिए खुला हो, सार्वजनिक शक्ति का प्रयोग सबके हित को ध्यान में रखकर किया जाए, सब व्यक्तियों को अपने–अपने हितों

की सिद्धि के लिए तथा अपनी–अपनी समझ से सार्वजनिक हित की सिद्धि के लिए अपने विचारों को व्यक्त करने, उपयुक्त संगठन बनाने, सभाएं करने, दूसरों को समझाने–बुझाने, इत्यादि की पूरी स्वतंत्रता हो और शांति, व्यवस्था तथा नैतिक भावना को कोई क्षति पहुँचाए बिना भिन्न–भिन्न और विरोधी विचारों के प्रति सहिष्णुता बरती जाए।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि प्रस्तुत अर्थ में राजनीतिक न्याय 'स्वतंत्रता' के आदर्श को प्रमुखता देता है, आर्थिक न्याय 'समानता' के आदर्श को साकार करना चाहता है। इन तीनों को मिलाकर ही सामाजिक जीवन में न्याय के व्यापक आदर्श की सिद्धि की जा सकती है।

देखा जाए तो सामाजिक न्याय की मांग आधुनिक युग की विशेषता है। टॉम बॉटॉमोर ने अपनी पुस्तक 'क्लासेज इन मॉडर्न सोसायटी' के अंतर्गत लिखा है कि सभ्यता के लंबे इतिहास में धन–संपदा, पद–प्रतिष्ठा और शक्ति की विषमताएं प्रायः ऐसी स्थिति के रूप में स्वीकार की जाती रहीं जिसमें कोई हेर–फेर न किया जा सकता हो।[11] अठारहवीं शताब्दी में जब अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों ने इस स्थिति पर प्रश्न–चिन्ह लगाने की प्रेरणा दी, तब भी यह अनुभव किया गया कि सामाजिक वर्ग–व्यवस्था विषमता की जीती–जागती मिसाल है। अतः इस पर व्यापक विवाद हुआ, और सामाजिक न्याय के दृष्टिकोण से इसे चुनौती दी गई। तभी इस तरह की घोषणाओं का सूत्रपात हुआ– सभी मनुष्य जन्म से प्रकृति से स्वतंत्र और समान हैं, उनमें किसी भी तरह का भेदभाव केवल सार्वजनिक उपयोगिता के आधार पर स्थापित होना चाहिए। सामाजिक न्याय की कामना से ही अधिकारों की पुनव्यर्व्यवस्था की मांग का जन्म हुआ।

विस्तृत अर्थ में, सामाजिक न्याय का मूल मंत्र यह है कि संगठित सामाजिक जीवन से जो भी लाभ प्राप्त होते हैं, वे इने–गिने लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जाएं, बल्कि सर्वसाधारण को– विशेषतः निर्बल और निर्धन वर्गों को– उनमें समुचित हिस्सा मिले ताकि वे सामान्यतः सुखी, सम्मानित और निश्चित जीवन जी सकें। सामाजिक न्याय की मांग है कि आय और संपत्ति का सीधा संबंध श्रम और कर्तव्यपालन से होना चाहिए, विशेषाधिकार, परंपरा या उत्तराधिकार से नहीं। संपत्ति का अधिकार वहीं तक मान्य होना चाहिए जब (क) संपत्ति श्रम की आय में से बचत करके संचित की गई हो, और (ख) वह संपत्ति व्यक्ति के सामान्य सुख तथा उसकी कार्यकुशलता को बढ़ाने के लिए आवश्यक हो। जाहिर है, जब श्रम के साथ संपत्ति का सीधा संबंध स्थापित हो जाएगा, तब घोर आर्थिक विषमताएं अपने आप कम हो जाएंगी, या शायद लुप्त हो जाएंगी, क्योंकि व्यक्ति में श्रम की क्षमता तो आखिर सीमित होती है! इसका दूसरा परिणाम यह भी होगा कि जो व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार श्रम नहीं करता, उसे संपत्ति का अधिकार तो क्या जीने का अधिकार भी नहीं होगा।[12] निर्बल, अपंग या असहाय लोगों की बात दूसरी है जिन्हें मानवतावादी भावना की प्रेरणा से जीने का अधिकार अवश्य दिया जाएगा।

आर्थिक विषमताएं समाप्त हो जाने पर सामाजिक संपदा किसी वर्ग के हाथ की कठपुतली नहीं रह जाएगी बल्कि वह समाज की सेविका बन जाएगी। तभी सच्चा लोकतंत्र स्थापित हो सकेगा क्योंकि तब चुनाव जनता का सच्चा विश्वास प्राप्त करके जीते जाएंगे, पैसे की ताकत से नहीं। तब शिक्षा और आत्मविकास के अवसर सबको समान रूप से उपलब्ध होंगे, पैसे वालों के लिए विशिष्ट संस्थाएं नहीं रहने दी जाएंगी। तब न्यायालयों में मुकदमा वे ही लोग नहीं जीतेंगे जो पैसे के बल पर सबसे प्रतिभाशाली वकील को अपनी वकालत के लिए खड़ा कर देंगे, बल्कि न्याय की तुला में कोई पासंग नहीं रहेगा। तब काले बाजार के ठेकेदार अपनी दानशीलता का आडंबर रचाकर भोली–भाली जनता की जय–जयकार प्राप्त नहीं कर सकेंगे बल्कि किसी को किसी की दया या दान पर निर्भर ही नहीं रहना पड़ेगा। तब समाज में जो भी उत्पादन होगा या जिन सेवाओं का प्रबंध किया जाएगा वह जनता–जनार्दन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर किया जाएगा, पूंजीपतियों की जेबें भरने के लिए नहीं। तभी सामाजिक न्याय एक कोरा आदर्श या राजनीतिक नारा न रहकर सामाजिक यथार्थ के धरातल पर स्थापित हो सकेगा।

प्रक्रियात्मक न्याय और तात्त्विक न्याय :

सामाजिक जीवन में न्याय किस रूप में स्थापित किया जाए– इस विषय पर समकालीन चिंतन के अंतर्गत प्रक्रियात्मक न्याय और तात्त्विक न्याय के समर्थकों में मतभेद पाया जाता है। प्रक्रियात्मक न्याय के समर्थक यह मानते हैं कि सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों के आवंटन के लिए सार्वजनिक निर्णयों तक पहुँचने की प्रक्रिया या विधि न्यायपूर्ण होनी चाहिए, फिर किसे क्या मिलता है–यह विवाद का विषय नहीं है। इसके विपरीत तात्त्विक न्याय के समर्थक यह मानते हैं कि इन लाभों का वितरण न्यायपूर्ण होना चाहिए, इस लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इसकी प्रक्रिया में आवश्यक समायोजन किया जा सकता है। देखा जाए तो प्रक्रियात्मक न्याय का स्वरूप कानूनी–औपचारिक न्याय से मिलता–जुलता है, और तात्त्विक न्याय का विचार सामाजिक न्याय के निकट आ जाता है।[13]

प्रक्रियात्मक न्याय की धारणा उदारवाद के साथ निकट से जुड़ी है। इसके अनुसार, न्याय का काम व्यक्तियों या समूहों के परस्पर संबंधों को नियमित करना है। अतः इसके अंतर्गत व्यक्तियों की स्वतंत्रता और समानता के आधार पर नियम निर्धारित कर देने चाहिए, जो सभी व्यक्तियों पर समान रूप से लागू होते हों। दूसरे शब्दों में, व्यक्तियों के परस्पर संबंध अनुबंध की स्वतंत्रता पर आधारित होने चाहिए। राज्य का कार्य यह देखना है कि कोई व्यक्ति या वर्ग छल से या बल से दूसरे व्यक्ति या वर्ग को दबा न पाए। इस विचारधारा के अंतर्गत मनुष्यों के परस्पर व्यवहार की तुलना दौड़–प्रतियोगिता से की जाती है। दौड़ में कौन आगे रहेगा, कौन पीछे रह जाएगा– इस बारे में पहले से कोई धारणा बना लेना उचित नहीं है। दौड़–प्रतियोगिता के निरीक्षक का काम केवल यह देखना है कि कोई प्रतियोगी दूसरे को धोखा न दे, दौड़ के नियमों का उल्लंघन न करे, या कोई उत्तेजक दवा लेकर जबर्दस्ती दूसरों से आगे निकलने की कोशिश न करे।

इस तरह प्रक्रियात्मक न्याय बाजार–अर्थव्यवस्था के नियमों को मानव–व्यवहार का प्रमाण मानता है। इसके अनुसार, बाजार–तंत्र अपने आप उत्पादन के तत्त्वों को आकर्षित करके उनके सर्वोत्तम प्रयोग के हालात पैदा कर देता है। किसी कृत्रिम सामाजिक नीति के द्वारा इस प्रक्रिया में बाधा डालने से दुर्लभ संसाधनों का दुरुपयोग या अपव्यय होगा जिससे हरेक को नुकसान होगा। प्रक्रियात्मक न्याय के प्रवर्तकों में हर्बर्ट स्पेंसर, एफ.ए. हेयक, मिल्टन फ्रीडमैन और रॉबर्ट नॉजिक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा, जॉन राल्स ने प्रक्रियात्मक न्याय को सामाजिक न्याय के सिद्धांत के साथ मिलाकर न्याय के व्यापक सिद्धांत की स्थापना का प्रयत्न किया है।[14]

प्रक्रियात्मक न्याय का सिद्धांत जाति, धर्म, क्षेत्र, त्वचा के रंग, लिंग, भाषा, संस्कृति इत्यादि के आधार पर मनुष्य–मनुष्य में किसी तरह के भेदभाव का विरोध करता है, और समाज में सब मनुष्यों की समान गरिमा और समान महत्त्व को स्वीकार करता है। इस दृष्टि से यह एक प्रगतिशील विचार है। परंतु यह विचार बाजार–अर्थव्यवस्था को आदर्श व्यवहार का प्रमाण मानते हुए यह मानकर चलता है कि केवल सबके लिए समान नियम बना देने पर सब मनुष्य अपने परस्पर संबंधों को न्यायपूर्ण ढंग से समायोजित कर लेंगे, और सरकार को इस प्रक्रिया में हस्तक्षेप करने की जरूरत नहीं है। विचार का अनुसरण करते हुए हर्बर्ट स्पेंसर ने तो यहाँ तक कहा है कि सरकार को अपंग लोगों की भी कोई सहायता नहीं करनी चाहिए, बल्कि जो कोई जीवन–संघर्ष में अयोग्य सिद्ध हो, उसे मर–खप जाने देना चाहिए।[15] एफ.ए. हेयक ने तर्क दिया कि सरकार को समाज–कल्याण के उद्देश्य से बाजार–अर्थव्यवस्था का नियंत्रण करने का विचार छोड़ देना चाहिए।[16] मिल्टन फ्रीडमैन का दावा है कि प्रतिस्पर्धात्मक पूंजीवाद ही मुक्त–विनिमय–अर्थव्यवस्था को सहारा देता है,[17] अतः सरकार को केवल वही मामले अपने हाथ में लेने चाहिए जिन्हें बाजार–अर्थव्यवस्था नहीं संभाल पाती। सरकार का कार्य बाजार–अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखना नहीं है, उसे मानव–कल्याण, ने संपत्ति के अधिकार को सर्वप्रमुख मानव–अधिकार मानते हुए यह तर्क दिया है कि राज्य का मुख्य कार्य संपत्ति की रक्षा करना है। अतः नॉजिक ने 'पुलिस राज्य' का समर्थन किया है।[18] उसके अनुसार, राज्य को अपने नागरिकों की संपत्ति के पुनर्वितरण की शक्ति प्राप्त नहीं है क्योंकि वे मूलतः इसके सेवार्थी थे। समाज में कोई भी संपत्ति उत्पादन और स्वैच्छिक हस्तांतरण के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, और इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप जो विषमताएं पैदा होती हैं, उन्हें वितरण के स्तर पर बदलने का प्रयास–अन्यायपूर्ण होगा। नॉजिक के अनुसार, कराधान को भी केवल वहीं तक उचित ठहरा सकते हैं जहाँ तक वह 'न्यूनतम राज्य' का खर्च उठाने के लिए जरूरी हो। इससे अधिक कर लगाना एक तरह की बेगार है। इस तर्क का आश्रय लेते हुए नॉजिक ने कल्याणकारी राज्य का तीव्र विरोध किया है। कुछ भी हो, ये सारे तर्क शुद्ध पूंजीवादी व्यवस्था को स्वतंत्रता और न्याय का आधार मानते हुए ऐसी स्थिति का समर्थन करते हैं जिसमें श्रमिक वर्ग पूंजीपतियों की दया पर आश्रित हो जाता है। जैसा कि सी.बी. मैक्फर्सन ने स्पष्ट किया है, पूंजीवादी व्यवस्था को सरल–विनिमय–अर्थव्यवस्था के साथ मिलाना एक भूल है। पूंजीवादी व्यवस्था की विलक्षण बात यह हे कि इसमें श्रम और पूंजी एक–दूसरे से वियुक्त हो जाते हैं, और ऐसी श्रमशक्ति अस्तित्व में आ जाती है जिसके पास इस श्रम को बाजार में बेचने के सिवा कोई चारा नहीं रह जाता। इस तरह व्यक्ति का श्रम उसके व्यक्तित्व से अलग हो जाता है, और बहुसंख्यक लोग अपनी शक्ति और निपुणता को मनचाहे ढंग से रचनात्मक दिशा में नहीं लगा पाते। इस तरह पूंजीवादी व्यवस्था मनुष्य की प्रतिभा को कुंठित कर देती है। इसमें मनुष्यों के परस्पर संबंधों के न्यापूर्ण समायोजन की गुंजाइश कहाँ है?[19]

प्रक्रियात्मक न्याय के विपरीत, तात्त्विक या सामाजिक न्याय का समकालीन विचार समाजवाद के साथ निकट से जुड़ा है। सामाजिक न्याय के समर्थक यह मानते हैं कि जब तक समाज संपूर्ण सामाजिक संपदा, उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक जीवन से प्राप्त होने वाले लाभों के वितरण पर अपना नियंत्रण स्थापित नहीं करता, तब तक इस वितरण को न्यायपूर्ण नहीं बनाया जा सकता। आर्थिक जीवन में खुली स्पर्धा ऐसी विषमताओं को जन्म देती है जिनमें निर्धन वर्ग धनवान वर्ग द्वारा निर्धारित शर्तों पर काम करने को विवश हो जाता है। सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक जीवन में भी निर्धन वर्ग को हीन स्थिति का सामना करना पड़ता है। अतः न्याय का ध्येय कानूनी, राजनीतिक तथा सामाजिक–आर्थिक क्षेत्रों में अनुचित विषमताओं को दूर करना है। इसका अर्थ यह है कि जो व्यक्ति या समूह इन विषमताओं या विवशताओं के कारण स्वतंत्रता या आत्मविकास के अवसरों से वंचित रहे हों, उनके हितों की रक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की जाए। सामाजिक न्याय की मांग यह है कि सामाजिक विकास के इने–गिने लोगों के हाथों में सिमटकर न रह जाएं बल्कि उन्हें समाज के अभावग्रस्त, दीन–दलित, वंचित और कमजोर स्तरों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाए।

न्याय की कसौटियां

जब हम तात्त्विक न्याय की समस्या पर विचार करते हैं, तब ऐसे मानदंडों का पता लगाना जरूरी हो जाता है जिनके अनुसार विभिन्न व्यक्तियों के बीच वस्तुओं, सेवाओं, अवसरों, लाभों इत्यादि के आवंटन को उचित ठहराया जा सके। डेविड मिलर ने अपनी पुस्तक 'सोशल जस्टिस' के अंतर्गत तीन ऐसी कसौटियों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर विभिन्न विचारक न्याय की समस्या का समाधान ढूंढ़ते हैं। पहला नियम 'स्वीकृत अधिकारों का संरक्षण' है। यह श्रेणीतंत्रीय व्यवस्था को जन्म देता है। इसका प्रमुख प्रवर्तक डेविड ह्यूम है। दूसरा नियम 'योग्यता के अनुरूप वितरण' का है। यह 'प्रतिस्पर्धात्मक बाजार' की व्यवस्था का पोषक है। इसका प्रमुख प्रवर्तक हर्बर्ट स्पेंसर है। तीसरा नियम 'आवश्यकता के अनुरूप वितरण' का है जो 'समैक्यवादी समाज' को बढ़ावा देता है। इसका प्रमुख प्रवर्तक पीटर क्रॉपॉटकिन है।[20]

इन तीनों विचारधाराओं का विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि इनमें से कोई अपने–आप में न्याय के संपूर्ण रूप को प्रस्तुत नहीं करती। यदि 'स्वीकृत अधिकारों का संरक्षण' ही न्याय है तो फिर समाज में वर्तमान सामाजिक–आर्थिक विषमताओं को दूर करने का कोई उपाय नहीं रह जाएगा। यदि 'योग्यता के अनुरूप वितरण' को ही न्याय मान लें तो भी वर्तमान व्यवस्था में कोई आमूल परिवर्तन संभव नहीं, क्योंकि योग्यता अर्जित और विकसित करने के अवसर भी गिने–चुने लोगों के अधिकार में रहेंगे, और जनसाधारण को इस बहाने सुख–संपत्ति से वंचित रखा जाएगा कि उनमें योग्यता ही नहीं। फिर यदि 'आवश्यकता के अनुरूप वितरण' को न्याय का नियम मानें तो अनेक समस्याएं पैदा होंगी। आवश्यकताएं निर्धारित करने का आधार क्या होगा? क्या भौतिक आवश्यकताओं पर ही विचार किया जाएगा, मानसिक आवश्यकताओं की अनदेखी कर देगें? यदि नहीं तो शासन के लिए सबकी मानसिक आवश्यकताओं का निर्णय करना कैसे संभव होगा? दूसरे, इतनी संपदा कहाँ से आएगी जिससे सबकी सभी अवश्यकताएं पूरी की जा सकें? तीसरे यदि सबकी आवश्यकताएं तो पूरी कर दी जाएंगी पर किसी के लिए विशेष पुरस्कार की व्यवस्था नहीं होगी, तब श्रम चाहे अनिवार्य ही क्यों न कर दिया जाए, कोई व्यक्ति सृजनात्मक श्रम की ओर किस प्रेरणा से प्रवृत्त होगा जिसके लिए वह दिन–रात एक कर देता है? अतः सामाजिक न्याय की योजना कुछ इस तरह बनानी होगीः

1. सभी स्वस्थ व्यक्तियों के लिए न्यूनतम श्रम अनिवार्य होगा?
2. सबकी न्यूनतम आवश्यकताएं– जो स्वस्थ जीवन–निर्वाह के लिए अनिवार्य हों– अवश्य पूरी की जाएंगी, और
3. अतिरिक्त श्रम के लिए अतिरिक्त पुरस्कार की व्यवस्था होगी।[21]

परंतु न्याय का यह सूत्र देखने में जितना सरल प्रतीत होता है, व्यवहार में उतारने पर उतना ही जटिल है। यह जाहिर है कि यदि सबके लिए न्यूनतम श्रम अनिवार्य नहीं होगा तो इतना उत्पादन कहाँ से होगा कि सबकी न्यूनतम आवश्यकताएं पूरी की जा सकें? परंतु किसी विशाल राष्ट्र में सबके लिए रोजगार की व्यवस्था करना कोई खेल नहीं। फिर अतिरिक्त श्रम के लिए अतिरिक्त पुरस्कार किस सूत्र से निर्धारित करेंगे? क्या वर्तमान व्यवस्था के अंतर्गत चालाक, चलते–पुर्जे और भ्रष्ट्राचारी लोग अपनी कूट योजनाओं के बल पर अपनी संपदा बढ़ाते नहीं जाएंगे और सच्चे दिल से परिश्रम करने वालों की बेकद्री नहीं होती रहेगी? क्या निहित स्वार्थ इस व्यवस्था को अपनी–अपनी योग्यता का पुरस्कार कहकर सारी मानवता की आँखों में धूल झोंकते रहेंगे? इन सब गुत्थियों को सुलझाना बहुत कठिन है। जब तक सर्वसाधारण में जागृति नहीं आएगी और वे निहित स्वार्थों पर कड़ी निगाह और अंकुश नहीं रखेंगे तब तक सामाजिक न्याय एक स्वप्न ही बना रहेगा।

न्याय का मार्क्सवादी सिद्धांत

मार्क्सवादी चिंतन के अंतर्गत न्याय के सिद्धांतों का क्या स्थान है– यह प्रश्न विवाद का विषय बना हुआ है। एक ओर यह विचार व्यक्त किया जाता है कि मार्क्सवाद का ध्येय पूंजीवाद की जगह समाजवाद स्थापित करना है जिसका एकमात्र उपाय क्रांति है, न्याय के प्रति झुकाव का मतलब होगा– वर्तमान व्यवस्था को थोड़े – बहुत परिवर्तन के साथ कायम रखना। अतः कुछ विचारक यह तर्क देते हैं कि न्याय का प्रश्न मार्क्सवाद के संदर्भ में अप्रासंगिक है। इस तर्क के अनुसार, मार्क्स ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'कैपीटल' (पूंजी) के अंतर्गत मजदूरों के शोषण का जो विवरण दिया है, वह पूंजीवाद का स्वाभाविक लक्षण है, उसे अन्याय की समस्या मानकर पूंजीवाद के भीतर उसका हल ढूंढना बेकार होगा। मार्क्स केवल पूंजीवादी प्रणाली के अंतर्गत आय और मजदूरी के स्तरों में सुधार लाना नहीं चाहता था, बल्कि संपूर्ण उत्पादन–प्रणाली और संपत्ति–संबंधों को नए रूप में ढालना चाहता था। फिर, 'क्रिटीक ऑफ गोथा प्रोगाम' के अंतर्गत 'उचित वितरण' की मांग उठाकर अपने कर्तव्य को इतिश्री समझ लेते हैं। इसके अलावा, मार्क्स ने सामाजिक विश्लेषण के लिए आधार और अधिरचना का जो ढांचा प्रस्तुत किया है, उसमें नैतिकता को अधिरचना का हिस्सा मानते हुए यह तर्क दिया गया है कि ऐतिहासिक परिवर्तन के साथ जब उत्पादन–प्रणाली बदल जाती है, तब 'उचित–अनुचित' या 'न्यायपूर्ण और अन्यायपूर्ण' के मानदंड भी बदल जाते हैं। ऐसी हालत में न्याय के कोई स्थायी सिद्धांत कैसे स्थापित किए जा सकते हैं? अंततः मार्क्स के अनुसार, पूंजीवादी के विलय के बाद जिस 'साम्यवादी समाज' का उदय होगा, उसमें अभाव और संघर्ष को जन्म देने वाली परिस्थितियों ही समाप्त हो जाएंगी, तब राज्य और उसके न्यायिक उपकरण की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी।[22]

इन तर्कों को ध्यान में रखते हए क्या यह मान लेना चाहिए कि न्याय के प्रश्न से मार्क्सवाद का कोई सरोकार नहीं है? गहराई में जाकर देखें तो तो ऐसा मानना सही नहीं होगा। मार्क्स ने जगह–जगह मजदूरों के शोषण के अनुचित, चोरी और डकैती तक की संज्ञा दी है। उसने 'प्रत्येक को अपने कार्य के अनुसार' के सूत्र पर आधारित वितरण की जगह 'प्रत्येक को अपनी आवश्यकता के अनुसार' का समर्थन किया है। इसका मतलब यह हुआ कि मार्क्स ने वितरण न्याय के एक सिद्धांत की तुलना में दूसरे सिद्धांत को वरीयता दी है। उसने 'नैतिक सापेक्षवाद' में विश्वास रखते हुए भी ऐसी समाज–व्यवस्था स्थापित करने का रास्ता दिखाया है जिसमें उत्पादन–प्रणाली से जुड़ी हुई विचारधारा या मिथ्या चेतना लुप्त हो जाएगी, अतः वह नैतिक दृष्टि से से उच्च कोटि की व्यवस्था होग। फिर, मार्क्स ने स्वतंत्रता और मानववाद के प्रति जो अगाध आस्था व्यक्त की है, उसे न्याय के प्रति उदासीनता नही मान सकते। मार्क्सवाद के प्रभुत्व और पराधीनता की जिन परिस्थितियों पर प्रहार करता है, वे सामाजिक अन्याय का ज्वलंत उदाहरण हैं। अतः यह मानना गलत होगा कि न्याय की समस्या से मार्क्सवाद का कोई सरोकार नहीं है। वह केवल ऐसा समाधान स्वीकार नहीं करता जिसमें थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ पूंजीवाद को कायम रखने का बहाना मिल जाए।[23]

निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण रूप से न्यायपूर्ण समाज के अनुरूप स्वरूप के निर्धारण में सबसे प्रमुख समस्या तो न्याय के उन सभी कारणों की निश्चित धारणीयता के कारण उत्पन्न होती है जो निष्पक्षता की कसौटी पर खरे उतरते हैं और परस्पर भिन्न ही नहीं होते वरन् उनमें (कुछ न कुछ) स्पर्धाशीलता भी पाई जाती है। आइए, इसे एक उदाहरण द्वारा समझने का प्रयास करें : मान लीजिए कि आपको उन तीन बच्चों के बीच पंचफैसला करना है जो एक बाँसुरी को पाने के लिए झगड़ रहे हैं। पहले बच्चे 'ए' का कहना है कि वही बाँसुरी पाने का सही अधिकारी है – केवल उसे बाँसुरी बजानी आती है। (अन्य दो मानते हैं कि उन्हें बाँसुरी बजाना नहीं आता)। यदि यही जानकारी पंच के फैसले का एकमात्र आधार होती तो कोई कठिनाई नहीं होती, उसे ('ए' को) बाँसुरी देने का बड़ा ठोस आधार होता।

किन्तु अब दूसरे बच्चे 'बी' की बात भी सुन लें। वह कहता है कि वह इतना गरीब है कि उसके पास कोई और खिलौना है ही नहीं। बाँसुरी उसके अकेलेपन की साथी बन सकती है (शेष दोनों बच्चे स्वीकार करते हैं कि उनके पास तो और भी बहुत–से खिलौने आदि हैं)। यदि केवल 'बी' की बात सुनते तो उसे बाँसुरी दे देना भी बड़े सशक्त तर्क पर आधारित होता।

अब तीसरे वैकल्पिक परिदृश्य को देखें। तीसरे बच्चे 'सी' का कहना है कि यह बाँसुरी तो उसने महीनों तक अकेले बड़ी मेहनत करके बनाई है और जब ये तैयार हो गई तो ये दो दावेदार इसे मुझसे छीन लेना चाहते हैं। यदि केवल 'सी' की बात सुनें तो उसकी मेहनत के पुरस्कार के रूप में बाँसुरी उसे सौंप देना आपको ठीक ही प्रतीत होगा।

तीनों पक्ष सुनने के बाद– उनके तर्कों पर विचार करने के बाद निर्णय करना कठिन है। उपयोगितावादी, समतावादी, पूंजीवादी सिद्धान्तकारों को यहां कोई समस्या नहीं दिखाई देगी। उन्हें तो समाधान स्पष्ट रूप से सामने खड़ा दिखाई दे जायेगा। परन्तु निर्णय तीनों की दृष्टि में अलग–अलग होगा। मैं एक बात की ओर और आकर्षित करना चाहूँगा तीनों बच्चों के अपने अधिकार के पक्ष में तर्कों का जो अन्तर है वो किसी भी रूप से व्यक्तिगत लाभ का अन्तर नहीं है। अन्तर तो उन नियमों को लेकर है जिन्हें संसाधन विभाजन का आधार बनाया जाना चाहिए। इस उदाहरण से यह स्पष्ट है कि न्याय शब्द की कोई मानक परिभाषा नहीं की जा सकती। इसी कारण पोटर ने इसकी तुलना एक ऐसे बर्तन से की है जिसके अनेकों पैंदे हैं।

अंत टिप्पणी

1. *Ernest Barker: Greek Political Thought and Theory in the Fourth Century- The Cambridge Ancient History Vol.-VI 1927 Ch. 16*

2. *सेबाइन, जार्ज एच.: राजनीति–दर्शन का इतिहास' एस.चन्द एण्ड (अनुवादक–विश्वप्रकाश गुप्त) कम्पनी, नई दिल्ली, 1977, पेज 53*
3. *सेबाइन, जार्ज एच. :'राजनीति–दर्शन का इतिहास' एस.चन्द एण्ड (अनुवादक–विश्वप्रकाश गुप्त) कम्पनी, नई दिल्ली, 1977,पेज 34–80*
4. *Richard L. Nettleship : Lectures on the Republic London 1914*
5. *Ernest Barker : Greek Political Thoughht and Theory in the Fourth Century- The Cambridge Ancient History Vol.-VI 1927, Ch. 17*
6. *सेबाइन, जार्ज एच. :'राजनीति–दर्शन का इतिहास' एस.चन्द एण्ड (अनुवादक– विश्वप्रकाश गुप्त) कम्पनी, नई दिल्ली, 1977, पेज 81–113*
7. *Franz Susenihl & R.D. Hicks : The Politics of Aristotle, London 1894*
8. *गाबा, ओ.पी. : 'राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा' मयूर पेपरबेक्स, नोएडा, 1996, पेज – 359–395*
9. *निक्केल, जेम्स : रॉल्स ऑन पॉलिटिकल कम्युनिटी एण्ड प्रिंसिपल्स ऑफ जस्टिस, लॉ एण्ड फिलॉसफी, 1990*
10. *बार्कर, अर्नेस्ट : 'सामाजिक तथा राजनीति शास्त्र के सिद्धांत (अनुवादक– बोधराज शर्मा) हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़ 1972*
11. *Andrew Heywood : Politics 1997- Palgrave Macmillan*
12. *डेविड हील्ड : कॉस्मोपॉलिटन डेमोक्रेसी, इन एजेण्डा फॉर अ न्यू, वर्ल्ड आर्डर, पॉलिटी प्रेस लंदन 1995*
13. *गाबा, ओ.पी. : 'राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा' मयूर पेपरबेक्स, नोएडा, 1996, पेज – 359–395*
14. *Will Kymilicka : Contemporay Political Philosophy- 2000*
15. *जौहरी, जे.सी. : 'आधुनिक राजनीतिक विज्ञान के सिद्धांत' स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1992*
16. *Friedrich Hayek : Law Legislation & Liverty – 1973, The Mirage of social justice 1976*
17. *Milton Friedman : Capitalism & Freedom – 1962, University of Chicago Press*
18. *Robert Lozick : Anarchy State & Utopia – 1974, Basic Books*
19. *एडवर्ड एल्गार : जस्टिस इन पोलिटिकल फ्लोसफी – 1992*
20. *कनाडियन जर्नल ऑफ फिलॉसफी 20/1 : रॉल्स एण्ड द इलेक्टिव ऑनरशीप ऑफ नेचुरल एबिलिटीज, 1990, पेज 19–28*
21. *डी मैक्लेलन : कार्ल मार्क्स सेलेक्टेड राईटिंग्स 1977, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस*
22. *डी मैक्लेलन : कार्ल मार्क्स सेलेक्टेड राईटिंग्स 1977, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस*
23. *डी मैक्लेलन : कार्ल मार्क्स सेलेक्टेड राईटिंग्स 1977, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस*